कौन जाएगा कहीं काशी की गाली छोड़ के

गौतम सान्याल

I गालियाँ

इस कृति (*काशी का अस्सी*, काशीनाथ सिंह, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2002) में शुद्ध घी की जो देसी गालियाँ परोसी गई हैं, वह बहुतों को पच नहीं पाईं। सच कहूँ तो *हंस* में इसके धारावाहिक प्रकाशन से हिंदी के संभ्रांत पाठक वैसे ही आतंकित हो गए थे जैसे कुछ दिनों पहले नरवानर से दिल्लीवासी। ध्यात्व है कि नरवानर का रहस्य तब खुला जब लोगों को पता चला कि नरवानर का हड़कंप उतना बाहर नहीं जितना कि भीतर है।

बहरहाल, बेशुमार गालियाँ परोसते हुए इस गद्य ने जो किया है, उसके लिए 'छीः-छीः' कहते भी नहीं बनता है — वह संभ्रांत के चूतड़ में अटकी उस व्याकुल-वायु की तरह 'अकथ' ही है। उस 'अकथ' को वाणी देते हुए और अटके-भटकों को मार्ग बताते हुए गालियों के सौंदर्यशास्त्र के प्रश्रय में तनिक गंभीर परामर्श प्रस्तुत है।

निवेदन है कि गालियाँ किसी भी भाषा की विलक्षण सम्पदा होती हैं, वह भाषिक-अभिव्यक्ति का चूड़ांत निदर्शन होती हैं। शब्दार्थ निर्यास का जो सघन-स्तर गालियों में निहित है, वैसा अन्य शब्द-कोटि में नहीं। संक्षेपण की दृष्टि से गालियों का कोई सानी नहीं है — जो आप हज़ार शब्दों में या साढ़ेसाती व्याख्याओं में न कह पाते हों, मात्र दो गालियों में अनायास ही व्यक्त कर दे सकते हैं। जब सारे के सारे संभ्रांत शब्द बेअसर होकर लौट आते हैं तो एक ही गाली में काम चल जाता है।

दूसरी तरफ़, ऐसा व्यक्ति इस पृथ्वी पर नहीं रहता या नहीं है जो गालियों का उपयोग नहीं करता, जिसने किसी को या स्वयं को कभी गालियाँ न दी हों। सामाजिक स्तर या रुचि के अनुसार उसके प्रकार भेद हो सकते हैं मगर गालियों से बचा नहीं सकता है।

प्रश्न उठता है कि अब गालियाँ चिरकाल से मनुष्य के दिमाग़ और समाज में हैं तो इनसे कैसे बचा जा सकता है? इस प्रश्न का दूसरा पहलू है कि जो चिरंतन है वह स्वयं में अश्लील कैसे हो सकता है? प्रमाणित है कि गालियाँ आदिम समाज में भी पौराणिक युग में थीं और आज भी हैं तो वह स्वयं में अश्लील, अनुपयोगी और अतिरिक्त कैसे हो सकती हैं?

गालियाँ जब जीवन और समाज में हैं तो वह साहित्य में क्यों कर न आएँ? प्रश्न तो सीधा-सा है कि गालियों को (विशेष परिस्थितियों में) न देने का या उसे साहित्य में आने से रोकने का कोई उपाय भी है? मेरे विचार से नहीं है, अगर वह साहित्य जीवन पर आधारित है। इन तमाम प्रतिप्रश्नों से जो नाभिकीय दिशाफलक उठ खड़ा हुआ है, वह बिल्कुल स्पष्ट है — किसी कथावृत्त या गद्य में, गालियों के उपयोग-प्रयोग की शर्तें क्या हैं?

निवेदन है कि कथावृत्त में गालियों का प्रयोग पिरामिड पर तीक्ष्ण चोटी की भाँति, अँगूठी में नग की भाँति, साँप में ज़हर की तरह और रात नदी में नाव पर की लालटेन की भाँति ही होना चाहिए। गालियों का उपयोग घुड़सवारी में चाबुक की तरह और मेघ-संकुल आकाश में बिजली की एक कौंध की भाँति होना चाहिए — बिजली

की एक कौंध जो क्षण भर के लिए सही, मगर क्षण भर में, समस्त आकाश को उद्भासित कर देती है। संक्षेप में, यही कहना है कि आँखों को ठीक से आँज पाए तो काजल, वरना मुँह पर पुत गई तो कालिख ही कहलाएगी।

जीवन में नग्नता है, लेकिन नग्नता ही जीवन नहीं है। कला में नग्नता हो सकती है मगर समग्रतः और अंततः कलाएँ नग्नता ही नहीं है। जो गालियाँ करुणा, संत्रास, सहमर्मिता और आर्त्तनाद पैदा न करें, पाठक मन को जुगुप्सा से आप्लावित न कर दें, यथार्थ की विश्वसनीय संभाव्यता का परिवेश न गढ़ सकें और संपूर्ण रचना के संवाद को सुतीव्र-सुतीक्ष्ण न कर दें — वह साहित्य के नाम पर गाली ही हैं!

उपर्युक्त तमाम परामर्शों को ध्यान में रखें तो आलोच्य-कृति *काशी का अस्सी* से टकराते हुए एक बड़ा-सा परिसर खुलता है, वहाँ लेखक की अनेक सफलताएँ साफ़-साफ़ दिखती हैं तो विफलताएँ भी, मगर गालियों के बारे में हमारे मन में ऐसी गाँठें पड़ी हुई हैं कि निगाह खुलती नहीं। उसी गाँठ के पोस्टमॉर्टम के लिए एक प्रसंग प्रस्तुत है।

सभी जानते हैं कि ब्रिटिश से ज़्यादा दक़ियानूस या नकभौंसिकोड़िए तो कोई होते नहीं! तो उसी लंदन में बर्नाड शॉ का नाटक 'पिग्मेलियन' प्रारंभ हुआ। नाटक में एक स्थिति तब आती है, जब नायिका एलिज़ा डूलिट्ल गहरे क्षोभ में कह उठती है : ब्लडी! तो शो के पहले हफ़्ते इस गाली पर सारा प्रेक्षागृह सिहर उठता रहा, लेकिन बाद में जब नाटक ख़ूब चल निकला और लोगों ने ख़ूब पसंद किया तो वह कथास्थिति आते ही जैसे ही एलिज़ा थोड़ा-सा मंच के सामने की ओर आ जाती, अंधेरे में पूरा प्रेक्षागृह बुदबुदा उठता था — ब्लडी! एलिज़ा को संवाद बोलने की ज़रूरत नहीं पड़ती। एक दिन हॉल की बत्तियाँ जली की जली रह गईं। प्रेक्षागृह बिल्कुल शांत रहा और उस दिन 'ब्लडी' संवाद बोला ही न जा सका!

कहने का आशय यही कि चाहे हॉल की बत्तियाँ जली रहें या बुझी रहें, मेरा सूरते-हाल यही है कि जो संलाप (गालियाँ) मेरी ज़बान पर चढ़ गया है, उसे मुझे बोलना ही है।

कहना न होगा कि *काशी का अस्सी* की अस्सी प्रतिशत गालियाँ अचूक, सुंदर और पारदर्शी हैं, कहीं से भी वीत-श्राद्ध दिखाई नहीं देतीं, अपने लक्ष्य को भेदकर तूणीर में इंटैक्ट लौट आती हैं। वह कथास्थितियों में विलक्षण व्यंजना उत्पन्न करती हैं, समग्र गद्य जैसे सधा हुआ गांडीव हो और पाठकमन जैसे इसकी प्रत्यंचा। रह-रहकर तीर छूटते हैं और पाठकमन उस टंकार की झंकृति से भर उठता है, जिसमें लक्ष्य के प्रति ललकार है तो स्वयं के प्रति कॉन्फ़िडेंस भी। ये गालियाँ मूलतः जमात की भाषा है जिसे अंग्रेज़ी में जारगन या अरगॉट कहते हैं। स्लैंग भाषाविज्ञ एरिक पैट्रिज (*स्लैंग, येस्टरडे ऐण्ड टुडे*) और बी. बैरी (*दि अमेरिकन थिसॉरस ऑफ़ स्लैंग्स*) ने विस्तार से इसकी चर्चा की है। ये जमात क्या है? ये जमात जनता है, जिसका लोकतंत्र से संपूर्ण मोहभंग हो गया है, जो समाज के हैजेमनी-क्लास की वास्तविकता ख़ूब पहचान गई है। ये अपभाषा जनता के मन की भाषा है, लोकतंत्रों के ठेकेदारों के प्रति जनता का पारदर्शी संवाद है। 'संतों घर में झगड़ा भारी' का पूरा अध्याय इसी जन-भाषा से आप्लुत है।

इन गालियों को बाँचते हुए मेरे सामने सबसे बड़ी समस्या इन गालियों को लेकर नहीं है, बल्कि उन शोधयत्नों के बारे में है, जिसका हिंदी में पूरी तरह से अभाव है या जो हिंदी में सिरे से अनुपस्थित हैं। कैनेडा के जॉन हालावे के नाटक, जो कि अपभाषा (पेजॉरेटिव लैंग्वेज) में रचित हैं, का विश्लेषण सम्भव है, क्योंकि वहाँ/मेलविन वैन डेनवार्क और बी. बैरी के कोश उपलब्ध हैं। बांग्ला में इसे बाँचना सम्भव है क्योंकि वहाँ कुमारेश घोष, भक्तिप्रसाद मलिक या तपन राय चौधरी के ग्रंथ उपलब्ध हैं। सर्वोपरि डॉ. सत्रजित गोस्वामी के ग्रंथ (बांग्ला अकथ्य-भाषा का शब्दकोश) तो है ही, जो कि स्लैंगविज्ञ हैं भले ही उनका शोधयत्न अमेरिका के लुइज़े पाउंड के स्तर का नहीं है। लेकिन हिंदी में ऐसे शोधयत्न तो क्या, मेरी जानकारी में एक भी आलेख उपलब्ध नहीं है। (*हंस* में पंद्रह साल पहले मैंने बहस चलाई थी, "गाली मत दो गोली मार दो" — *समाज बोलता है* पुस्तक में गालियों का विशद विश्लेषण है — *हंस* के सम्पादक राजेन्द्र यादव) स्थिति ये है कि इस कृति को बाँचने के लिए परंपरा का व्यवहार (ट्रैडिशन ऐण्ड प्रैक्टिस) तो क्या, एक भी रेफ़रेंस-बुक नहीं है। ऊपर से हिंदी के पाठक गांधी जी के चार बंदर बने बैठे हैं। चौथा बंदर मैं हूँ जो *हंस* में छपी किसी कहानी में दो-चार गालियाँ देखते ही चिहुँककर संपादक को

लानत भेजते हुए पत्र लिखता हूँ और रात को बच्चे सो जाने के बाद हर हफ़्ते बिना नागा साउंडलेस ब्लू फ़िल्म देखता हूँ! बहरहाल, गालियों के सौंदर्यशास्त्र व समाजशास्त्र के व्यवस्थित विवेचन के अभाव में, एक-दो विक्षिप्त मंतव्यों के प्रश्रय में इस कृति को बाँचते हुए, क्या है कि इसके साथ अन्याय ही कर रहा हूँ। एरिक पैट्रिजर ने लिखा है — गालियाँ, जीवन और समाज में मात्र विशेषण के रूप में नहीं होती। वे स्पीच के सारे फ़िगर के रूप में बहुरूप होती है, यहाँ तक कि मुहावरे-कहावतों या जातीय भाषा-चेतना के रूप में (तुलनीय दिल्ली-हरियाणा का 'भैणचो' या बनारस का 'भोंसड़ी के') और स्वयं में भीषण अस्थिर होती हैं — 'No record of slang can even be complete of course, its duration is too unstable. The continual use of new words as the old lose the freshness and color...' (लुइज़े पाउंड) अतएव इन्हें साहित्यिक कृति की स्थिर भाषा में ढालना अत्यंत दुष्कर कार्य है। इनकी अस्थिरता के बारे में पैट्रिजर का कहना है कि यह स्वयं में बहुरूपता से एकरूपता की ओर सदैव क्रियान्वित रहती है और slangs, after all, a peculiar kind of vagabond language always hanging over the outskirts of legitimate speeches.

पहली बात तो यह है कि इस कृति में गालियों का प्रयोग मात्र विशेषण के रूप में नहीं हुआ है, जैसा कि *हंस* में छपी कुछ कहानियों या राही मासूम रज़ा के *आधा गाँव* में। ध्यान से देखने पर इसमें अपभाषा की स्पीच के सारे के सारे फ़िगर मिलेंगे। इसमें गालियाँ संज्ञा, सर्वनाम, क्रियाविशेषण, क्रियाभाव, क्रियापद पैटर्न, समुच्चय, अव्यय, कर्मवाच्य, कर्तृवाच्य, पूर्वसर्ग आदि तमाम व्याकरणिक कोटियों में मेल्टेड मिलेंगी। यहाँ तक कि मुहावरे (माँ चुदाय दुनिया, हम बजायें हरमुनियाँ), कहीं-कहीं तो संपूर्ण आप्तवाक्य (दोनों एक ही गांड़ हगते थे) तो कहीं पूरे प्रसंग के प्रतीक के रूप में, जैसे तन्नी-गुरु का 'बुढ़ापे का सबसे बड़ा कष्ट' विवेचन। बक़लम तन्नी गुरु — जब उनके बुढ़ा गए कायापलट को देखकर लेखक के मन में अनुकंपा उभरी (गुरु क्या थे और बुढ़ापे में क्या हो गए!) तो गुरु ने कहा — 'छोड़ो ये सब, एक पते की बात सुनो, जानते हो बुढ़ापे का सबसे बड़ा कष्ट क्या है?' उन्होंने एक जांघ की तरफ़ इशारा किया — 'एक ऐसी चीज़ का निरंतर लटकते रहना, जिसका अब न को इस्तेमाल है, न ज़रूरत! ऐसे फ़ालतू वजन का ढोना और मरते दम तक ढोते रहना, बुढ़ापे का सबसे बड़ा कष्ट है।' उल्लेखनीय है कि काशीनाथ सिंह यहाँ मात्र किसी विशेषण का प्रयोग करते (लजाते हुए मेरा प्रयास, उदाहरणार्थ, पीएच-डी अर्थात् पोटाटो हाइली डिफ़ेक्टिव) तो बेबात हो जाती, वो बात पैदा नहीं हो पाती जो कि वहाँ हुई है। तन्नी गुरु का आग-राग विवेचन भी (जिसे सुनते ही नीचे कुछ सुलगने लगता है) इतना ही अर्थवंत है।

यही नहीं, शब्दों के स्तर पर गालियों की डिस्मैंटेलिंग और टर्निकेशन (dismantling and turnication) भी देखते ही बनता है। उदाहरण के लिए, फटकलंड गिरधारी, झँटकुल्ली, गड़ऊँ-गदर आदि ये रूपांतरित गालियाँ मात्र अलंकृति के लिए नहीं, बल्कि पूरे प्रसंग को परिभाषित करती प्रयुक्त हुई हैं। उदाहरण के लिए झँटकुल्ली। यह प्रसंग सीपीआई की वास्तविक अवस्थिति को बताने के लिए (भारतीय राजनीति में) आया है, ये हर दिन किसी न किसी मसले पर स्टेटमेंट देते रहते हैं, जबकि ये सांसद होते ही हैं कितने — 'रामजी राय चले और चार क़दम चलकर लौट आए — ये भों... के सौ करोड़ के आबादी में पाँच झँटकुल्ली सीपीआई और दिखाएंगे ऐसे कि ये न हों, तो देश ही न चले!'

और इन गालियों के संदर्भ में अस्सी का दृष्टिकोण साफ़ है — 'जो मज़ा सबको गरियाने में है, वह किसी तरफ़ होने में कहाँ!' अस्सी किसी की तरफ़ नहीं है। अस्सी कबीर का गुर्दा है। वह संभ्रात और आभिजात्य के शव पर बैठा हुआ मंत्र बुदबुदाता कापालिक है। विसंगति देखते ही विद्रूप पेल देता है और रह-रहकर हर-हर महादेव की तर्ज पर अस्सी के जार्गबॉन या आरगॉट का कुहराम उठाता है — अरे भों... के, बुजरौ के, छिनरौ के! उसका यह कोरस सॉफ़्टनोज़्ड बुलेट की तरह है जो टारगेट पर लगते ही अश्लील ढंग से छितरा जाता है। बड़ी निर्ममता से, वह किसी को नहीं छोड़ता — यहाँ तक कि लेखक को नहीं — 'इ भोंसड़ी के कौन है बे? लेखक है। बकरा-जइसा दाड़ी-दाढ़ा बढ़ाने से कोई लेखक थोड़े नु बन जाता है!'

अतएव कहने में संकोच कैसा कि यह हिंदी की पहली किताब है जिसमें गालियों का महाकाव्यिक, पूर्णांग, पारदर्शी और बहुविध प्रयोग हुआ है। आगामी दिनों में जब हिंदी के स्लैंग्स का थिसॉरस या अपभाषा का कोश

लिखा जाएगा तो कदाचित् यह कृति सर्वाधिक काम में आएगी। अब मैं बांग्ला वालों को ताल ठोंककर कह सकता हूँ कि हमारे पास भी एक ऐसी कृति है।

लेकिन वाह तब आह में बदल जाती है जब मेरी दृष्टि *काशी के अस्सी* की बाक़ी बीस प्रतिशत गालियों पर जा टिकती है। निस्संदेह ये गालियाँ अश्लील, अनुपयोगी, अपारदर्शी, अतिरिक्त, अरोचक, अनर्गल, अल्लटप्पू, अलील, अवलेही, अविवेकी, अप्रासंगिक और असंभाव्य प्रतीत होती हैं। कई बार ये गालियाँ प्रयोक्ता के होंठों पर बफनरी मूछों की तरह या चौपट राजा के गले में मोज़े या पैरों में पहने गए मुकुट की भाँति दिखाई देती हैं। इनके बारे में संक्षेप में और संकेत से इतना कहना है कि ये किसी अच्छे प्रयास की विफलता के सिंप्टम नहीं, बल्कि ये काशीनाथ सिंह का सिंड्रोम है। आदमी जब अपनी बीमारी के सिंप्टम को जी-जान से चाहने लगता है और अपने स्वयं-ज्ञापित व्यक्तित्व का अंश बना डालता है तो उसे सिंड्रोम कहते हैं।

इन गालियों के संदर्भ में आख़िरी बात कोई मुझसे पूछे कि मेरा ध्यान कहाँ केन्द्रित है, तो क़िस्सा है कि समुद्र-मंथन के बाद गड़उँ-गदर मचा, मंथन से निकले अमृत और विष तो सुर और असुर अपना-अपना हिस्सा नोचकर ले गए। मैं न तो अमृतपायी हूँ और न ही विषपाई। मेरा ध्यान उस कलश पर टिका हुआ है जिसकी तरफ़ कदाचित् ही किसी का ध्यान गया है। एक टुटहे कलश को गोद में लिए हुए काशीनाथ जो बैठे-बैठे मंद-मंद मुस्कुराते हैं — मेरा ध्यान उस पर टिका हुआ है। — इस पर विस्तार से, किसी दूसरे आलेख में।

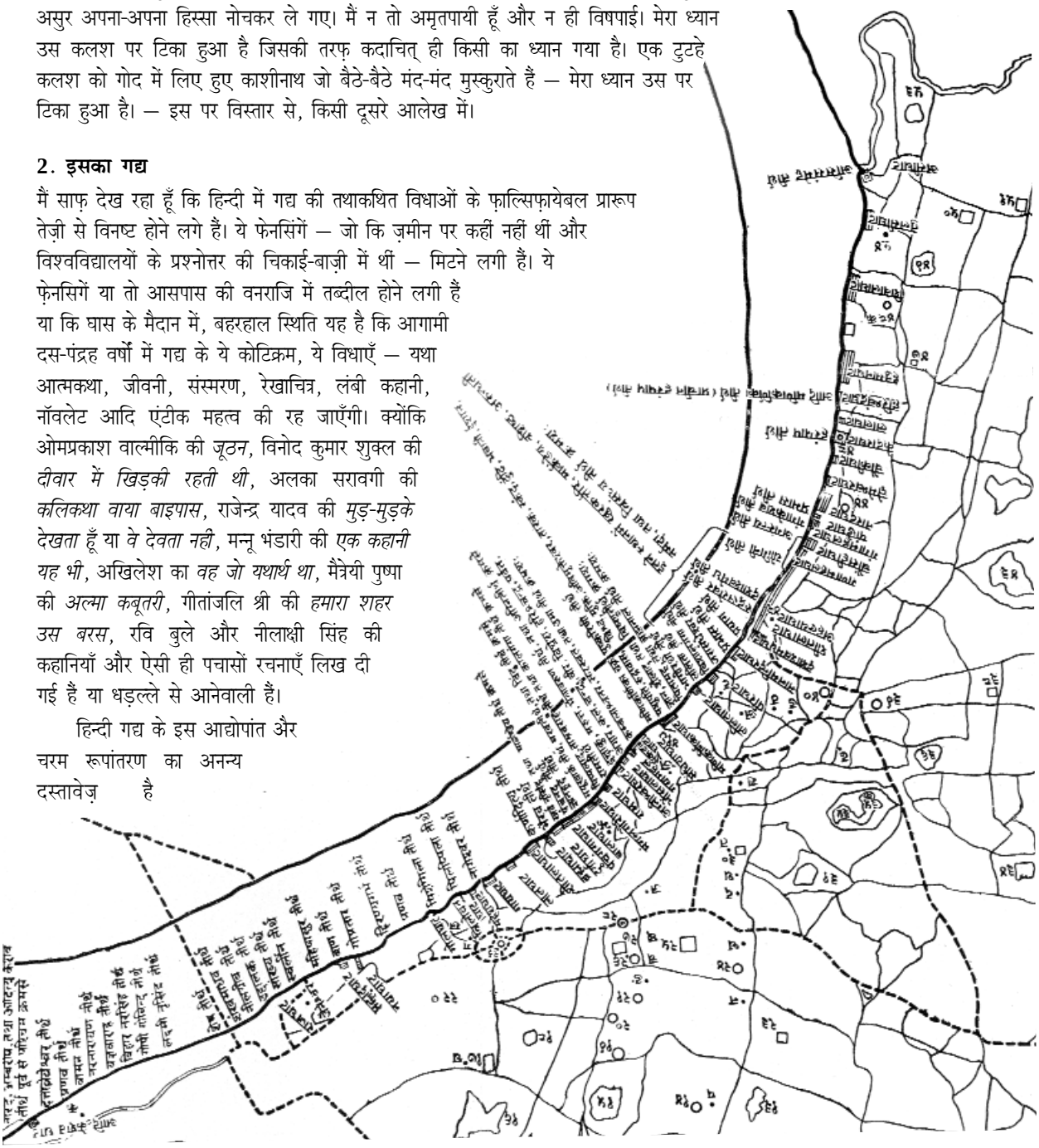

2. इसका गद्य

मैं साफ़ देख रहा हूँ कि हिन्दी में गद्य की तथाकथित विधाओं के फ़ाल्सिफ़ायेबल प्रारूप तेज़ी से विनष्ट होने लगे हैं। ये फेनसिंगें — जो कि ज़मीन पर कहीं नहीं थीं और विश्वविद्यालयों के प्रश्नोत्तर की चिकाई-बाज़ी में थीं — मिटने लगी हैं। ये फ़ेनसिगें या तो आसपास की वनराजि में तब्दील होने लगी हैं या कि घास के मैदान में, बहरहाल स्थिति यह है कि आगामी दस-पंद्रह वर्षों में गद्य के ये कोटिक्रम, ये विधाएँ — यथा आत्मकथा, जीवनी, संस्मरण, रेखाचित्र, लंबी कहानी, नॉवलेट आदि एंटीक महत्व की रह जाएँगी। क्योंकि ओमप्रकाश वाल्मीकि की *जूठन*, विनोद कुमार शुक्ल की *दीवार में खिड़की रहती थी*, अलका सरावगी की *कलिकथा वाया बाइपास*, राजेन्द्र यादव की *मुड़-मुड़के देखता हूँ* या *वे देवता नहीं*, मन्नू भंडारी की *एक कहानी यह भी*, अखिलेश का *वह जो यथार्थ था*, मैत्रेयी पुष्पा की *अल्मा कबूतरी*, गीतांजलि श्री की *हमारा शहर उस बरस*, रवि बुले और नीलाक्षी सिंह की कहानियाँ और ऐसी ही पचासों रचनाएँ लिख दी गई हैं या धड़ल्ले से आनेवाली हैं।

हिन्दी गद्य के इस आद्योपांत और चरम रूपांतरण का अनन्य दस्तावेज़ है

काशी का अस्सी — जो न तो संस्मरण है, न ही आत्मकथा, रिपोतार्ज भी नहीं, रेखाचित्र या उपन्यास उपक्रम भी नहीं — बस, गद्य है। इसे विधाओं की दीवारों पर टाँगकर 'इ संस्मरण' और 'उ रेखाचित्र' जैसी प्रागैतिहासिक शब्दावली में बाँचा न जा सकेगा। ग्रंथकार ने भूमिका में ही चेतावनी दे दी है — 'यह रचना वयस्कों के लिए है, बच्चों और बूढ़ों के लिए नहीं...' मेरी समझ के अनुसार बच्चों से तात्पर्य उन बूढ़ों से है, जो विश्वविद्यालयों में गद्य की विधाएँ बाँचते है और बूढ़ों का अर्थ वे बच्चे हैं, जो सब कुछ जानकर भी नहीं जानते, गद्य के इस आद्योपांत रूपातंरण को मानकर भी नहीं मानते!

अर्थ है कि इसके फ़्लैप के पहले पैराग्राफ़ में इसे 'उपन्यास' तो दूसरे पैराग्राफ़ में इसे 'कथा-रिपोतार्ज' कहा गया है। रेणु का क़िस्सा सबको मालूम है कि किस तरह प्रकाशक ने भूलवश मैला-आंचल के फ़्लैप पर 'एक आंचलिक उपन्यास' लिख दिया था और वर्षों विश्वविद्यालयों में 'आंचलिक उपन्यास' पढ़ाया जाने लगा। ये सारे के सारे हसीन गुनाह तब लोगों से 'हो' जाते हैं, जब गद्य रूपांतरण की संस्कृति से गुज़रता है। मनोरंजक तथ्य तो यह है कि स्वयं काशीनाथ सिंह ने इस रचना की पहली पंक्ति में इसे 'संस्मरण' कह दिया है। आख़िर वे भी तो विश्वविद्यालय में वर्षों 'डाकसाहब' रहे हैं! कहना यही है कि आगामी दस-पंद्रह वर्षों में हिन्दी गद्य की तमाम विधाएँ जब एक-दूसरे में समाहित हो जाएँगी, तो इस गद्य का ऐतिहासिक महत्व स्वयमेव स्पष्ट हो जाएगा।

3. गप्प-गोष्ठियाँ

मानव सभ्यता के इतिहास में, मनुष्य के सामाजिक व्यवहार (सोशल प्रैक्सिस) के संदर्भ में कोई भी सामाजिक अनुक्रिया इतनी धारावाहिक नहीं चली जितना कि यह, यानी कि ये गप्प-गोष्ठियाँ। निवेदन है कि सुकरात के ज़माने में ये सांस्कृतिक जमावड़े इसी रूप में थे, जैसा कि आज हैं। इस विश्व की प्रत्येक भाषा-साहित्य के सांस्कृतिक इतिहास में इसका अपना ही महत्व है। अगर यह सच है कि पिछले तीन सौ वर्षों में, विश्व के जितने भी कला-आंदोलन (चित्रकला, साहित्य, स्थापत्य आदि) हुए हैं, उसका नब्बे प्रतिशत फ़्रांस से उद्भूत हुआ है, तो ये भी सच है कि यह पेरिस जैसे नगरों के कहवाघरों में बाहर-भीतर के सांस्कृतिक जमावड़ों की उपज हैं।

बांग्ला संस्कृति का यह तो अभिन्न अंग है। बांग्ला में इस जमावड़े को 'आड्डा' या 'ठेक' कहते है, आहार-निद्रा-मैथुन की तरह यह गप्पबाज़ी औसत बंगाली के लिए अनिवार्य है। यहाँ विश्व की सारी समस्याओं का हल बातों ही बातों में हो जाता है। इन 'अड्डों' में जो पिनद्ध मंतव्य किए जाते हैं, टीका-टहोका-टिप्पणी की जो कौंध चिलकती है उसकी तुलना दमकती दामिनी से की जा सकती है, इनमें दुनिया-जहान-क़ायनात को बातों ही बातों में जैसा समेट लिया जाता है, उसकी तुलना पुच्छल तारे के परिभ्रमण कक्ष से और इसके विट की तुलना बर्नाड शॉ के श्रेष्ठ मंतव्यों से की जा सकती है। अर्ज़ है कि इन पंक्तियों का लेखक ऐसे ही दो 'ठेक' का नियमित सदस्य है। किसी दिन वह इनमें नहीं जाता और रात के आठ बजे ही घर लौट आता है तो उसकी पत्नी पहला काम यह करती है कि अपनी उल्टी हथेली को उसके गले में छुआती पूछ बैठती है — तबीयत ख़राब है क्या!

लेकिन ये सांस्कृतिक जमावड़े मात्र हँसी-ठट्ठे की चीज़ नहीं हैं। स्वाधीनता संग्राम के दौरान अनेक क्रांतिकारी दल इन्हीं सांस्कृतिक अड्डों से प्रसूत हुए हैं, जैसे कि 'युगांतर' या 'अनुशीलन समिति'। इस पर लिखा भी जा चुका है, जहाँ तक साहित्य या नाटक या फ़िल्मों का प्रश्न है — ग़ौर से देखें तो किसी भी भाषा का साहित्य जितना उसके समय-समाज का ऋणी है उतना ही इन सांस्कृतिक जमावड़ों का। किसी भी साहित्यकार को सर्वाधिकार प्रेरणा इन्हीं गप्प-गोष्ठियों से मिलती है।

अतएव प्रिय पाठको, पप्पू की दुकान पर उस गरियाते-गपियाते हुजूम को हँसी-खेल न जानेंगे!

4. अंततः फुटकल ख़ाते में : पहली बात में बीती रात!

पहली बात तो यह है कि हिन्दी में यह नगर-संस्कृति पर पहली किताब है। हिन्दी में 'नगर जीवन' पर तो बहुतेरी हैं — एक ढूँढ़ो, हज़ार मिलेंगी, मसलन नई कहानी और साठोत्तरी कहानी का मुख्य उपजीव्य तो नगर-जीवन ही है, लेकिन वे मुख्यतः 'नागर-कथाएँ' है जिन्हें नागरिकों ने लिखा है, कभी-कभी रोज़गार की तलाश में गाँव से

शहर आ बसे 'एक पीढ़ीवाले' नागरिकों ने। उन कथाओं के केन्द्र में नागर-चरित्र हैं, कोई विशिष्ट नगर नहीं है। उनमें नगर हाशिए या पृष्ठभूमि पर है।

प्रश्न उठता है कि नगर-संस्कृति की शर्तें क्या हैं? विनीत मगर स्पष्ट परामर्श है कि कोई भी कृति अगर संपूर्ण नगर (जैसे दिल्ली, कोलकाता, मुंबई, चेन्नई) पर आधारित है तो वह नगर-संस्कृति की रचना नहीं होती, क्योंकि किसी भी महानगर की आत्मा उसके संपूर्ण क्षेत्र वर्गफलन या नगर-निगम-म्युनिसिपैलिटी की संपूर्ण परिसीमा में निवास नहीं करती, बल्कि इसके विपरीत, उस महानगर में टुकड़े-टुकड़े, उसकी विशिष्ट गाँठों या अंचल या किन्हीं मुहल्लों-चौराहों में, वहाँ की विशिष्ट जीवन-शैली में समाहित होती है।

उदाहरण के लिए, इलाहाबाद की नगर-संस्कृति इलाहाबाद में नहीं बल्कि लोकनाथ की गलियों व दारागंज-कीटगंज इलाक़े में निवास करती है। गया की नगर-संस्कृति टुकड़े-टुकड़े चौक, दक्खिन दरवाज़ा या टिल्हा इलाक़ों में समाहित है। इसी तरह कोलकाता का वास्तविक स्पंदन पूरे कोलकाता में नहीं बल्कि फ़ुटबाल मैदान के आसपास, नाटकों के प्रेक्षागृह, पुस्तक मेले में — साउथ और नॉर्थ कोलकाता की भिन्न-भिन्न नगर-शैलियों में निहित है। उसका स्पंदन कुमार टोली (जहाँ मिट्टी की प्रतिमाएँ बनती है), कॉलेज स्ट्रीट की सेकेंड हैंड पुस्तकों की दुकानों पर व वहाँ के सांस्कृतिक-जमावड़ों में बसा हुआ हुआ है।

युरोप में, उसकी असंख्य नगर-संस्कृतियों पर प्रभूत परिमाण में साहित्य उपलब्ध है, वहाँ के रचनाकारों ने अकसर युरोप के छोटे-बड़े नगर-क़स्बों के जीवंत चित्र शब्दों में ढाले हैं, नगर संस्कृति पर अनवरत और प्रभूत लिखा है। वेनिस, टूरिन, प्राग, मिलान, मलागा, लिस्बन, मैड्रिड, ओस्लो, स्टॉकहोम, लिपज़िग, बेलग्रेड, इस्तांबुल, अंकारा, म्युनिख़, कोलोन, स्टुर्टगार्ड — कहाँ तक गिनाएँ, किन-किन रचनाकारों को उद्धृत करें — वहाँ नगर-संस्कृति पर लिखने की एक समृद्ध परम्परा है। हिन्दी के रचनाकार तो बाहर से उड़ आए पखेरू हैं, जो मात्र अंडियाने के लिए किसी नगर की किसी टहनी पर जा ठहरते हैं, वे 'बसते' नहीं हैं। उन्हें नगर-संस्कृति से क्या लेना-देना! अतएव लोगों को 'दिल्ली की दीवार' का गुप्तधन दिखाई दे जाता है, दिल्ली का स्पंदन सुनाई नहीं देता।

यह कृति बनारस की एक गाँठ (नोड) अस्सी पर आधारित है। कहते हैं कि वाराणसी दो नदियों की संयोग-स्थली है — वरुणा और अस्सी, दरअसल ये परस्पर-विरोधी नगर-संस्कृतियाँ हैं, जो चिरकाल से यहाँ अदृश्यतः प्रवाहित हैं। एक तरफ़ वरुणा का गुरु-गंभीर प्रशांत कछार है जो तल्लीन तपस्वियों की तपोभूमि है और वहाँ — 'स्निग्ध तरु की छाया में बैठ, परिषद करती सुविचार!' तो दूसरी तरफ़ अस्सी है — सबॉल्टर्न की अस्सी, जो दुनिया को एल.के.डी. रखती है — फक्कड़ और अलमस्त, मज़ाकिया और औघड़, जीवन की बड़ी से बड़ी समस्या को अपने अमुक पर रखकर माखौल उड़ाती शिव की बारात! वरुणा के किनारे कभी तुलसी बसते थे, जबकि अस्सी के किनारे कबीर, वरुणा के किनारे जयशंकर प्रसाद, रामचन्द्र शुक्ल, प्रेमचंद बसते हैं, तो अस्सी के किनारे भारतेंदु, शिवशंभु, धूमिल और काशीनाथ सिंह।

निवेदन है कि अस्सी ने अपने जीवटपन के बल पर सदैव संभ्रांत-आभिजात्यपूर्ण वरुणा की धज्जियाँ उड़ाई हैं और यह पुस्तक वरुणा बनाम अस्सी के इसी सनातन और दुर्धर्ष समर पर आधारित है, यह द्वंद्व बनारस की अस्मिता है, उसकी विशिष्ट पहचान है — इसीलिए मैंने इस कृति को 'नगर-संस्कृति का महत्वपूर्ण दस्तावेज़' से सिरोपा है। यह भी अर्ज़ है कि बनारस की जनता सदैव अस्सी के पक्ष में 'मतदान' करती आई, उन्हें वरुणा कभी रास नहीं आई। इस पुस्तक से इतना तो पता चलता ही है।

अंततः एक प्रश्न उठाना चाहूँगा जो कि इन दिनों किसी महत्वपूर्ण कृति को देखते ही मेरे मन में फूट पड़ता है — क्या इसका लेखक इसे लिखने का वस्तुतः अधिकारी है? क्या अस्सी को लिखने का हक़ काशीनाथ सिंह के पास है?

मेरे मन में सदैव से यह धारणा बनी हुई है कि रामायण लिखने का वस्तुतः अधिकारी वाल्मीकि नहीं था, क्योंकि वह पाठ के भीतर क्रमवार नहीं था। रामायण लिखने का वास्तविक अधिकार राम, लक्ष्मण, हनुमान, रावण, मेघनाद, सुमंत, वशिष्ठ, विश्वामित्र आदि के पास नहीं था, भिन्न-भिन्न कारणों से, रामायण लिखने का कुछ-कुछ अधिकार सीता, लव-कुश और मारीच के पास था।

लेकिन रामायण को लिखने का वास्तविक अधिकारी विभीषण ही था, क्योंकि एकमात्र वही था, जिसने राम और रावण को क़रीब से देखा था, जिसने राम और रावण की दुर्बलताओं और उनकी फ़र्क़ हीनताओं को क़रीब से देखा था। युद्ध शुरू होते ही वह पाठ के बाहर चला गया और यही उसके हक़ का एंट्री-प्वॉइंट था।

निवेदन है कि अस्सी-कथा को लिखने का वास्तविक हक़ इसके विभीषण उर्फ़ काशीनाथ सिंह के पास ही था, क्योंकि वह पाठ के भीतर था तो बाहर भी। अस्सी-कथा को लिखने का वास्तविक अधिकार तन्नी-गुरु, गया सिंह, मादलेन, पप्पू, बारबार बाबा, रामवचन पांडे, राजकिशोर, ब्रह्मानंद सहोदर आदि के पास नहीं था, क्योंकि वे पाठ में ही क़ैद होकर रह गए, 'कथा' से स्वयं को मुक्त नहीं कर पाए।

इस संपूर्ण कथा में काशीनाथ सिंह ने अपनी थ्री-डायमेंशनल उपस्थिति को ख़ूबसूरती से बनाए रखा — पप्पू की दुकान के एक नियमित सदस्य डाक-साहब के रूप में, अर्थात् एक चीख़ के रूप में, कथा के केन्द्र में एक द्रष्टा-चरित्र के रूप में और कथा या पाठ के बाहर अस्सी के चारण-कवि के रोल या खोल में घुसपैठ कभी नहीं की, इस कथा की विलक्षणता का रहस्य इसी में छुपा है।

वैसे अस्सी-कथा को लिखने-कहने का वास्तविक हक़ बिरहिया बल्लू या हीरालाल के पास था — मगर उन्हें गाने-बजाने से फ़ुर्सत कहाँ! लेकिन यह कॉपीराइट काशीनाथ सिंह कैसे हड़प गए, राज़ कुछ और है। ये और क़िस्सा है कि अस्सी के किसी अन्य भेदी 'दूसरे विभीषण' ने ये राज़ की बात मुझे क्यों बताई!

एक दिन पप्पू की दुकान पर डाक-साहब हीरालाल और बल्लू को लिवा लाए, चाय-वाय पिलाई, भांग की गोलियाँ परोसी, दुकान ख़ाली थी। गऊ से सीधे बल्लू, सांड से बेफ़िक्र हीरालाल। बल्लू ने इच्छा ज़ाहिर की — 'डाक् साहब, लिख दें अस्सी-कथा?' चौंकने का उच्चस्तरीय अभिनय करते हुए डाक् साहब बोले — 'अरे, न्न्न्! ये भूल कभी मत करना! लिखने से बड़ा अनर्थ हो जाता है, गिल्ली ग़ायब हो जाती है! दिखाएँ?' पप्पू ने मुँह घुमा लिया, बल्लू भौंचक — ऐसा? तो, पत्नी लिखने को मना नहीं करती?' डाक-साहब बोले — 'मना तो करती है, मगर क्या फ़ायदा! गिल्ली कोई बिजली तो नहीं कि आए-जाए, कोई पपीता तो नहीं कि बार-बार फले-फूले! गई सो गई!' तो हीरालाल ने सुझाया — 'तो आप ही लिखिए डाक्-साहब, आप तो पहले से गिल्ली-कट यानी कि क्या कहते हैं —लेखक हैं! लिखितव्यम् तो गिल्ली कटितव्यम्, संगीतव्यम् त गिल्ली बचितव्यम्'। उसी रात बल्लू ने एक गीत रचा —
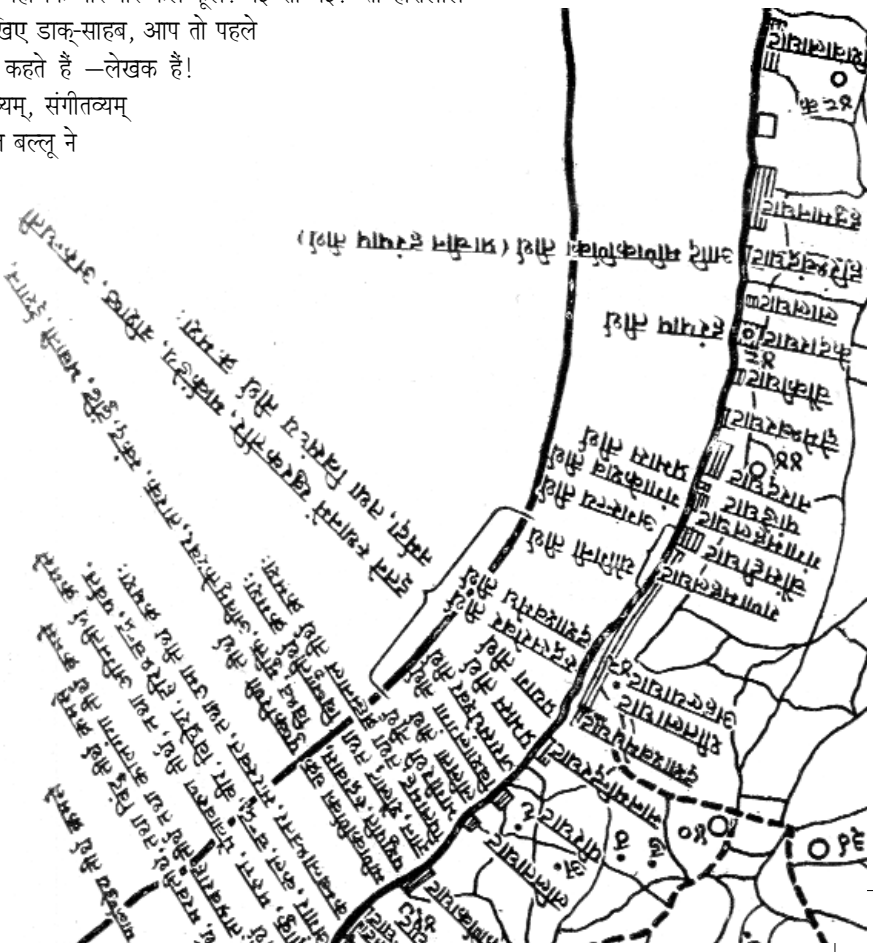
कौन ठगवा नगरी लूटल हो,
गिल्ली देके, सगरी लूटल हो।